सितम्बर 2025, अंक 09, वर्ष -02

सिनेमाहौल

फ़िल्म ईंज़ीन

अतिथि सम्पादक
रविराज पटेल

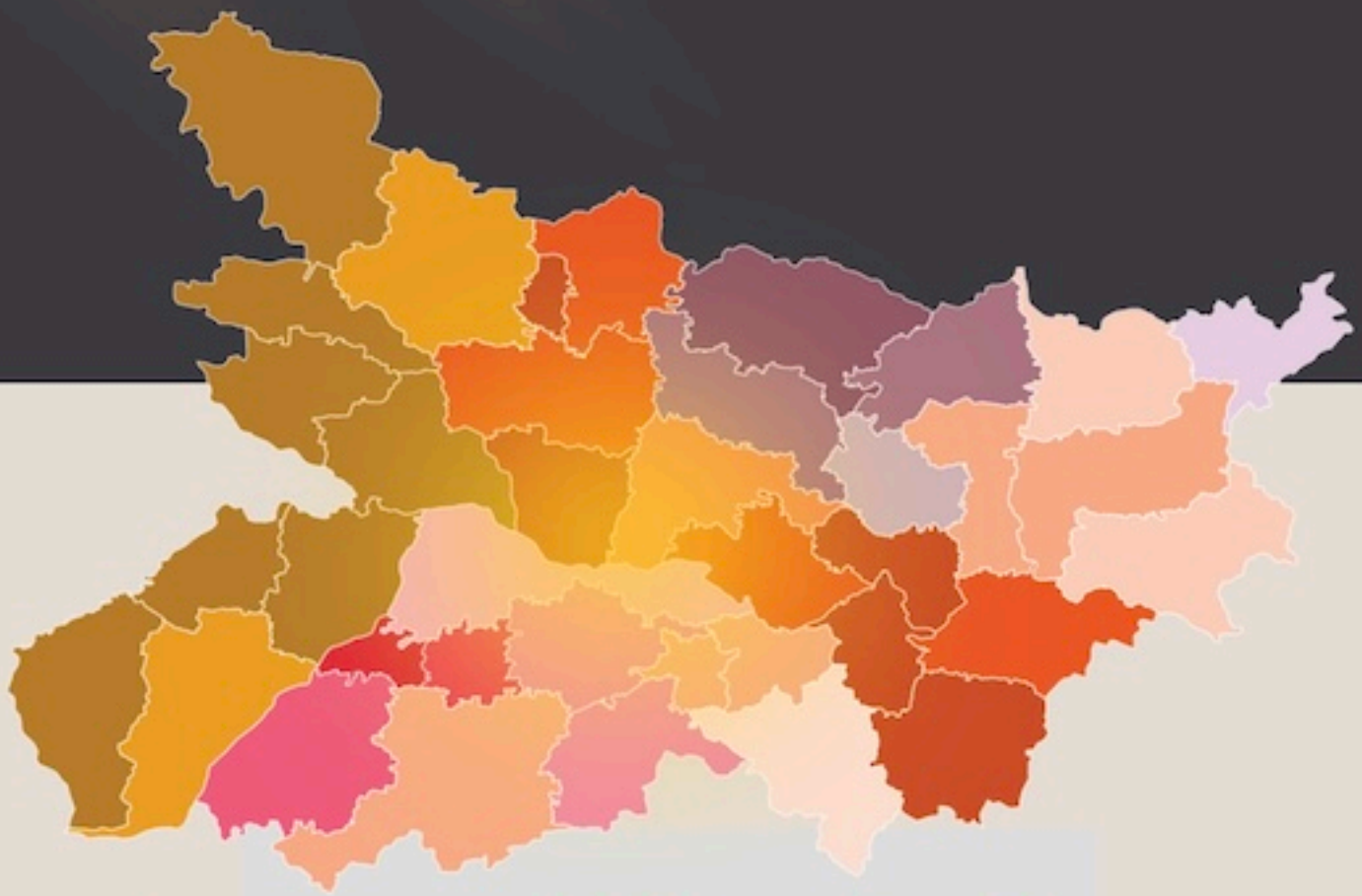

आवरण: आर वर्क

बिहार का सिनेमाई परिदृश्य

आलोक रंजन, अविजित घोष, डॉ. जैनेंद्र दोस्त, ज़ेब अख़्तर, नितिन चंद्रा, निलय उपाध्याय, पंकज शुक्ला, मनोज भावुक, यतीश कुमार, रविराज पटेल, राजेश मिश्रा, विनोद अनुपम, सुधाकर नीलमणि 'एकलव्य', सैयद एस. तौहिद, हितेंद्र पटेल

सितंबर, 2025

वर्ष 02, अंक 09

सिनेमाहौल

फ़िल्म ईज़ीन

संकलन और संपादन

रविराज पटेल

(अतिथि संपादक)

आवरण विषय: बिहार का सिनेमाई परिदृश्य

कवर: रविराज पटेल

अनुक्रम

संपादकीय

"बिहार का सिनेमाई परिदृश्य : खोया गौरव और नई उम्मीदें" 4

रविराज पटेल

जगे देर से - अब तो संभलो 7

आलोक रंजन

सिनेमा भोजपुरी 45

अविजित घोष

बिदेसिया नाटक का सिनेमाई रूपान्तरण 50

डॉ. जैनेन्द्र दोस्त

जड़ों की तलाश में भोजपुरी सिनेमा 68

जेब अख्तर

"बिहार का सिनेमा" क्या है? 72

नितिन चंद्रा

भोजपुरी सिनेमा को इंतजार है अपने असली नायकों का 76

निलय उपाध्याय

लोक नायकों पर बनी फिल्मों का अभाव खेदजनक 84

पंकज शुक्ला

सिनेमा और भोजपुरी : पहले आये गीत, फिर आयी फिल्में 91

मनोज भावुक

बिहार और सिनेमा: परदे पर मिट्टी की खुशबू 98

यतीश कुमार

जब स्वयं बिहार सरकार फीचर फिल्मों का निर्माण करती थी 109

रविराज पटेल

बिहार में सिने सोसाइटी की स्थापना और सिनेमा का प्रसार 115

रविराज पटेल

बिहार का सिनेमाई परिदृश्य 121

राजेश मिश्रा

सिनेमा से गुम होता बिहार 129

विनोद अनुपम

बिहार की पृष्ठभूमि पर बनी फिल्मों का कथ्य 137

सुधाकर नीलमणि 'एकलव्य'

अंगिका में फिल्म बनाने वाले युवा फिल्मकार अनुज कुमार रॉय 143

सैयद एस तौहीद

अगर प्रयास हुआ होता तो बिहार आज फ़िल्म निर्माण के क्षेत्र में योगदान कर रहा होता 149

हितेन्द्र पटेल

“बिहार का सिनेमाई परिदृश्य : खोया गौरव और नई उम्मीदें”

सिनेमा वह माध्यम है जिसमें कला की हर धारा- साहित्य, संगीत, नृत्य, रंगमंच और तकनीक- एक साथ बहती है। यही इसकी ताक़त है, और यही वजह है कि सिनेमा केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि समाज का दर्पण और भविष्य का संकेतक भी है। विडंबना देखिए, जिस बिहार ने कभी सरकारी स्तर पर फ़िल्म निर्माण की पहल कर भारतीय सिनेमा के इतिहास में अपनी पहचान बनाई थी, वही बिहार आज फ़िल्मी मानचित्र पर उपेक्षित खड़ा है।

भारतीय सिनेमा के शुरुआती दशकों में बिहार सरकार ने अपने स्तर पर फीचर फिल्मों का निर्माण कराया। “आदर्श ग्राम” और “नये नये रास्ते” जैसी फ़िल्में इसका प्रमाण हैं। उस दौर में तकनीकी दृष्टि से बिहार किसी से पीछे नहीं था। आधुनिक ध्वनि रेकॉर्डिंग की जिन चार मशीनों का देश में उपयोग होता था, उनमें एक पटना में था। यह बहुत बड़ा गौरव विषय है। परंतु अफसोस, हमने इस इतिहास का दस्तावेज़ीकरण नहीं किया। समय के साथ ये उपलब्धियाँ धुंधली पड़ गईं और आज की पीढ़ी इस विरासत से अनजान है।

वर्तमान परिदृश्य कड़वा सच दिखाता है। बिहार के कलाकार राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मंचों पर सफलता पा रहे हैं, पर बिहार की ज़मीन पर उनके लिए कोई अनुकूल माहौल नहीं है। हमारे पास शानदार लोकेशन, रंगमंच की गहरी परंपरा और प्रतिभाशाली

कलाकार हैं, लेकिन कमी है तो केवल संसाधनों और इच्छाशक्ति की। भोजपुरी सिनेमा इसका उदाहरण है- पाँच दशक पुराना होते हुए भी मुंबई में शरण लिए बैठा है और अपने घर वापस नहीं लौट सका। सवाल उठता है, क्या हम केवल यह कहने भर से संतोष पा लेंगे कि अमुक कलाकार भी बिहार का है?

दोष केवल सरकार का नहीं है। कलाकारों और फ़िल्मकारों की भी जिम्मेदारी है। बिना माँगे सरकारें सुविधाएँ नहीं देतीं। कलाकारों को संगठित होकर अपनी आवाज़ बुलंद करनी होगी। संघर्ष के बिना किसी भी आंदोलन की सफलता संभव नहीं। इतिहास हमें यही सिखाता है।

फिर भी उम्मीद की किरण मौजूद है। आज की सरकार सिनेमा के प्रति कुछ गंभीर दिखती है। फिल्म प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना, सेंसर शाखा का विस्तार, फ़िल्म महोत्सव की निरंतरता और युवा फिल्मकारों को अनुदान जैसी योजनाओं पर चर्चा हो रही है। यदि ये पहल ज़मीन पर उतरें, तो यहाँ के युवा मुंबई तक सीमित रहने के बजाय बिहार से ही अपनी नई राह बना सकते हैं।

यह समय आत्ममंथन का है। बिहार की पहचान केवल अतीत की विरासत पर नहीं टिक सकती। यदि हम सिनेमा को नया जीवन देना चाहते हैं, तो सरकार को नीतिगत पहल करनी होगी और कलाकारों को भी अपनी जिम्मेदारी समझनी होगी। सिनेमा बिहार का सपना नहीं, उसकी ताक़त बन सकता है- बस ज़रूरत है इच्छाशक्ति और संगठित प्रयास करने की।

इस विशेषांक में शामिल कुछ लेख पहले से संग्रहित था। जैसे आलोक रंजन जी, अविजित घोष जी, पंकज शुक्ला जी, ज़ेब अख़्तर जी और निलय उपाध्याय जी। उनके लेख भी यहाँ प्रस्तुत करना प्रासंगिक लगा, क्योंकि वे बिहार के संदर्भ में आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। विशेष रूप से आलोक रंजन जी का उल्लेख करना चाहूँगा- वे अब हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन जब-जब बिहार के सिनेमा की चर्चा होगी, उनका गहन अध्ययन और गंभीर दृष्टि याद की जाएगी। उनके सात लेखों का एक संकलन मेरे पास था, जिसे इस अंक में शामिल करना उचित समझा। यह उनके प्रति विनम्र श्रद्धांजलि भी है और साथ ही बिहार के सिनेमाई इतिहास को समझने की एक खिड़की भी।

सिनेमाहौल" का यह विशेषांक बिहार के सिनेमाई परिदृश्य पर केंद्रित है। इसमें अनुभवी से लेकर नए लेखकों के विचार शामिल हैं। आशा करता हूँ कि यह प्रयास आपको पसंद आएगा। अजय ब्रह्मात्मज सर का आभार, जिन्होंने भरोसा जताते हुए इस विशेषांक का संपादन मुझे सौंपा। अंक आने में हुई देरी के लिए खेद प्रकट करता हूँ और विश्वास करता हूँ कि प्रतीक्षा सार्थक सिद्ध होगी।

आपका,

रविराज पटेल

अतिथि संपादक

जगे देर से - अब तो संभलो

आलोक रंजन

भोजपुरी - अपने देश के 20 करोड़ से भी ज्यादा लोगों द्वारा बोली जानेवाली। एक ऐसी बोली जिसे इसके मौलिक रूप में सबसे पहले इसके आदिकवि कबीरदास ने अपने सरस निर्गुण काव्य द्वारा व्यापक सामाजिक स्तर पर प्रकट किया। उन्होंने इसे न केवल सम्पूर्ण उत्तर पूर्वी भारत की सर्वाधिक प्रमुख बोली 'पूरबी' के एक अभिन्न अंग के रूप में मुखरित किया, बल्कि 'कवने ठगवा नगरिया लूटल हो' और 'हम त नइहर के बानी रसीली लोगवा पागल कहे ना' जैसी विशुद्ध भोजपुरी रचनाओं द्वारा उत्तर भारत की एक प्रमुख - विशिष्ट बोली के रूप में इसका मौलिक स्वतंत्र अस्तित्व भी कायम किया। कबीरदास के लगभग साढ़े चार सौ वर्षों बाद बीसवीं सदी में अवतरित हुए लेखन, गायन और अपनी धुनों की त्रिवेणी के साथ पूरबी सम्राट महेंद्र मिश्र। भोजपुरी की लोक-संस्कृति के रस-रंग में पगी अपनी गीत रचनाओं और मधुर गायकी से पूरे भोजपुरी जन-मानस पर उन्होंने इस बोली की ऐसी अमिट, गहरी और मीठी छाप छोड़ी कि उनके तमाम गीत भोजपुरी भाषी क्षेत्रों में लोक-कंठों पर सदा-सदा के लिए सुरक्षित हो गये, सांस्कृतिक धरोहर के रूप में यह एक ऐसी कभी नहीं खत्म होने वाली पूंजी थी जिसका इस्तेमाल न सिर्फ भोजपुरी फिल्मकारों ने किया, बल्कि समय-समय पर अपनी फिल्मों की व्यावसायिक सफलता में इजाफा करने के

लिए हिंदी के नामचीन फिल्मकार भी काफी पहले से करते आये हैं और आगे भी करते रहेंगे। यह खजाना है ही ऐसा अद्भुत और अनमोल।

सोचने वाली बात ये है कि ऐसी लोकप्रिय बोली जिसे बोलने वाले उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे घनी आबादी वाले प्रांतों के अलावा मुम्बई (बम्बई), कोलकाता (कलकत्ता) और दिल्ली जैसे महानगरों तथा मध्यप्रदेश, आसाम, बंगाल, गुजरात, पंजाब, छत्तीसगढ़, झारखंड और उड़ीसा के अलावा सुदूर सिक्किम तक विभिन्न हिस्सों में काफी बड़ी संख्या में भरे पड़े हैं, ऐसे विस्तृत भू-भाग में फैली भोजपुरी में फिल्मों का निर्माण भारतवर्ष में अन्य क्षेत्रीय फिल्मों की बनिस्पत काफी देर से क्यों शुरू हुआ? यहां हमें यह बात याद रखनी होगी कि भोजपुरी की पहली फिल्म 'गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबो' 1962 में बनी थी, जब कि हमारे देश की पहली बोलने वाली यानी टॉकी फिल्म 'आलमआरा' 1931 में ही बन चुकी थी, यानी 'गंगा मइया...' बनी उससे ठीक 31 वर्षों बाद। 1931 से 1961 तक के इन तीन दशकों में हिंदी के अलावा मराठी, बंगाली और दक्षिण भारतीय भाषाओं की फिल्में एक मुकम्मल इंडस्ट्री की शक्ल ले चुकी थीं। ऐसा होना बेहद स्वाभाविक भी था चूंकि फिल्म निर्माण के प्रमुख केन्द्र तब इन्हीं भाषा- भाषी क्षेत्रों में ही थे। पर आश्चर्य तब होता है जब भोजपुरी की तुलना में कहीं कम और कहीं-कहीं तो बहुत ही ज्यादा कम क्षेत्रों में बोली जानेवाली भाषाओं में भी फिल्म-निर्माण 1931 के तुरंत बाद से ही शुरू हो गया। गुजराती में तो 1932 से ही फिल्में बनने लगीं जबकि पंजाबी और असमिया फिल्मों की शुरूआत 1935 में ही हो गयी। 1936 में उड़िया फिल्मों का भी श्रीगणेश हो गया। हकीकत